हिंदी पट्टी का वैचारिक संकट और बुद्धिजीवियों की भूमिका

— प्रफुल्ल कोलख्यान

क्या इन दिनों हम किसी गहरे वैचारिक संकट में फँसे हुए हैं ? प्रारंभ में ही यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जो लोग किसी भी प्रकार के वैचारिक संकट के होने की बात से असहमत हैं, उनकी दिलचस्पी के लिए इस पर्चा में कुछ भी नहीं है। यह पर्चा मुख्यतः उन लोगों को संबोधित है जिनके पास समाज में वैचारिक संकट के होने को मान लेने के पर्याप्त कारण पहले से मौजूद हैं। प्रारंभ में ही यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ 'हम' अपने सामान्य अर्थ में विशाल विश्व समाज और भारतीय समाज को और विशिष्ट अर्थ में हिंदी समाज या हिंदी पट्टी को ध्वनित करता है। एक बात और जब हम 'हिंदी पट्टी के वैचारिक संकट' की चर्चा करते हैं तो इसकी ध्वनि कुछ इस प्रकार की होती है कि 'वैचारिक संकट' का होना 'हिंदी पट्टी' की एकांत विशिष्टता है; दुनिया और दुनिया के अन्य 'पट्टियों' में ऐसा कोई संकट नहीं है। इस भ्रामक ध्वनि से बाहर निकलना जरूरी है। इस समय हमारा विवेच्य 'हिंदी पट्टी' से सीमित है, लेकिन यह संकट विश्वव्यापी है।

1 वैचारिक संकट कहाँ नहीं है

1.1 वैचारिक संकट पूरी दुनिया में पाँव पसार चुका है। वैचारिक संकट का उत्स विचार के अभाव में ही नहीं होता है। विचारों, प्रतिविचारों, वैकल्पिक विचारों के बहुतायत में होने के बावजूद वैचारिक संकट हो सकता है। यह बहुत कुछ वैसे ही संभव है जैसे भांडारों में पण्यों की प्रचूरता के बावजूद वास्तविक क्रयशक्ति के अभाव में अकाल पड़ सकते हैं — प्रो .अम्र्त्य कुमार सेन जैसे अर्थशास्त्री अकाल का मुख्य कारण इसी क्रयशक्ति के अभाव को बताते हैं। आज इतने सारे विचारों, प्रतिविचारों, वैकल्पिक विचारों के रहते अगर वैचारिक संकट है तो इस संकट के चरित्र पर ठहर कर सोचना चाहिए। असल में, विचार की सार्थकता न्यायपूर्ण आचार की पीठिका तैयार करने में होती है। सार्थक विचारों की सहयोजी तार्किक शृँखलाओं की अंतर्बद्धताओं से विचारधारा बनती है। जो विचार समतामूलक उच्चतर मानवीय व्यवस्था को हासिल करने के उद्देश्य से चलनेवाले सामाजिक संघर्ष के लिए न्यायपूर्ण आचार की पीठिका तैयार नहीं करता है, वह अंततः विचार का आभास ठहरता है। आभासी विचार वैचारिक संकट खड़ा करता है। विचारों और विचारधाराओं के अंत की 'घोषणा' का आशय सार्थक विचारों के 'अंत' की खुशफहमी से लबालब भरा होता है।

1.2 उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण, जिसे संक्षेप में उनिभू कहा जा सकता है, के दौर में वैचारिक संकट का एक और आयाम निकल आया है। इस त्रैत का चरित्र लोक में व्याप्त प्रेत की अवधारणा से मिलता है। कहते हैं प्रेत का पाँव उलटा होता है; नतीजा यह कि प्रेत पश्चिम की ओर गया हो तो उसके पद-चिह्न पूर्व की ओर जाने का विश्वास दिलाते हैं। उनिभू की उत्तर-आधुनिक परियोजनाएँ भाषिक संरचना में भ्रांति का विन्यास कर रही हैं। इस भ्रांति के कारण जो निर्मिति एक तरफ से देखने पर जनहितकारी लगती है, दूसरी तरफ से देखने पर प्राणांतक नजर आती है। इसलिए यह तय कर लेना जरूरी है कि हम देख किस ओर से रहे हैं। समाज के ऊपरी सोपानों से देखने पर यह उनिभू जितना चित्ताकर्षक लगता है, समाज के निचले सोपानों से देखने पर उतना ही प्राणांतक लगता

है। चित्ताकर्षकता और प्राणांतकता दोनों की ही प्रतीति को भ्रांतिमूलकता बर्द्धित कर देती है। स्वभावतः उनिभू के पक्षधरों को अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक बढ़त मिल जाती है जबकि विरोधी बेहतर और संतुलित समाज-व्यवस्था के लिए जारी मनुष्य की अपराजेय संघर्षशीलता की जीत के प्रति आस्था खोने लग जाते हैं। दार्शनिकों, कवियों और शायरों ने सूरज के निकलने पर कोहरे के आप ही छँट जाने की बात को, रोशनी की पतली-सी लकीर से अंधकार के सीने के चाक हो जाने की बात को अनेक प्रकार से और अनेक बार अभिव्यक्त किया है। मनुष्य की अपराजेय संघर्षशील चेतना ही तो सूरज है — सूरज का कभी अस्त नहीं होता, धरती ही घूम जाती है ! इस पर यकीन तो होना ही चाहिए कि जब दिखता नहीं है तब भी होता है सूरज ! इस बात पर हमारी पूर्ण आस्था है कि सूरज एक दिन कोहरे को छाँट देगा, भ्रांतियों का निराकरण कर देगा। इतिहास से प्रमाण मिलते हैं कि जब कभी आकाश सिकुड़ता है सबसे पहले सूरज की हत्या होती है, लेकिन यह घूम जानेवाली धरती ही उछाल देती है एक नया सूरज ! फिलहाल फ़ैज अहमद फ़ैज को याद करें कि 'येः रातें जब अट जायेंगी / सौ रास्ते इन से फूटेंगे / तुम दिल को सम्हालो जिसमें अभी / सौ तरह के नश्तर टूटेंगे'।

2 बुद्धिजीवियों की भूमिका

2.1 विचार के क्षेत्र में असंख्य दृष्टि-बिंदु और अंध-बिंदु सक्रिय रहते हैं। ये दृष्टि-बिंदु और अंध-बिंदु सदैव स्थिर नहीं रहते हैं। इनमें बदलाव होता रहता है। एक समय का दृष्टि-बिंदु दूसरे समय में अंध-बिंदु और एक समय का अंध-बिंदु दूसरे समय का दृष्टि-बिंदु बन जाता है। दृष्टि-बिंदु का अंध-बिंदु और अंध-बिंदु का दृष्टि-बिंदु में बदल जाना विचार की दुनिया की सतत प्रक्रिया है। आत्म-दृष्टि और विश्व-दृष्टि के परिप्रेक्ष्य को बनाने में इन दृष्टि-बिंदुओं और अंध-बिंदुओं का निर्णायक अवदान होता है। कई बार आत्म-दृष्टि के संदर्भ का अंध-बिंदु विश्व-दृष्टि का दृष्टि-बिंदु होता है और इसका विपरीत भी सच होता है। एक ही समाज के विभिन्न विचार समूहों के सदस्यों के दृष्टि-बिंदुओं और अंध-बिंदुओं का अदल-बदल भी संभव होता है। किसी भी विचार समूह के बुद्धिजीवियों का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने विचार समूह के सदस्यों के अंध-बिंदुओं और दृष्टि-बिंदुओं को वस्तुनिष्ठ परिप्रेक्ष्य प्रदान करे; अंध-बिंदुओं की चुंबकीयता के कमतर और दृष्टि-बिंदुओं की विष्णु-प्रभुता के समृद्धतर होने में सहायक हो। ऐसा करते समय बुद्धिजीवियों के सामने अपने विचार-समूह में अलोकप्रियता का जोखिम उठाने की चुनौती होती है। बाद में चलकर यह अ-लोकप्रियता बहुत बड़ी, कई बार कालजयी लोकप्रियता में बदल जाती है। अपने साहित्य से उदाहरण चुनने की बात हो तो तुलसीदास का नाम लिया जा सकता है। अपने विचार समूह में तुलसीदास लोकप्रिय नहीं थे। आज उनके विचार समूह में उनसे ज्यादा लोकप्रिय कोई दूसरा नहीं है। कहना न होगा कि अपने समूह की लोकप्रियता का ही प्रसार अन्य समूहों तक होता है। अपने समाज और विचारधारा की आत्म-दृष्टि और विश्व-दृष्टि के भीषण संघर्ष को आत्म-संधर्ष में बदलकर ही कोई बुद्धिजीवी अपने विचार समूह का और विचार समूह के माध्यम से अपने समाज के अंतःकरण का विस्तार करता है। यहाँ जब मैं समाज कहता हूँ तो मेरी दृष्टि में हैबरमास के 'पब्लिक स्फीयर' — जिसे हिंदी में 'जनवास' कहा जा सकता है — की संकल्पना का ध्यान है। ठीक इस जगह पर बुद्धिजीवियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। प्राथमिक रूप से अपने ही विचार समूह की विश्व-दृष्टि और आत्म-दृष्टि में निहित गहरे आत्मविरोधों और अंतर्विरोधों में संतुलन और सामंजस्य बनाकर उसकी सामाजिक स्वीकार्यता की परिमिति बढ़ाना बुद्धिजीवियों का सबसे बड़ा दायित्व होता है। इस दायित्व को पूरा करने के लिए अपने विचार-दर्शन की बारिकियों के अनुरूप समाजिक वस्तुनिष्ठता का सामान्य या विशिष्ट दृश्य-विधान आवश्यक तो होता है किंतु पर्याप्त नहीं होता है; दृश्य-विधान से अधिक जरूरी होता है दृष्टि संस्थापन। सभ्यता विकास के साथ दृश्यों में बदलाव का आना स्वाभाविक होता है, किंतु दृश्यों के ऐसे प्रत्येक बदलावों के साथ-साथ दृष्टि का बदलाव स्वाभाविक नहीं होता है। दृष्टि और बुद्धि

की दृढ़ता वैचारिक जड़ता से उत्पन्न नहीं होती है, बल्कि मुक्तिबोध के शब्दों में कहें तो 'जो है उससे बेहतर' को हासिल करने की चिर-स्थाई सामाजिक आकांक्षा का स्वाभाविक निर्यास दृष्टि और बुद्धि को दृढ़ता देता है। इस अर्थ में बौद्धिक कर्म या बुद्धिजीवियों का काम अपने वास्तविक विन्यास में सामाजिक होता है। समाज अपने-आप में एक संगठन होता है। बुद्धिजीवियों का सामाजिक काम एक स्तर पर सांगठनिक काम भी होता है। कुछ बुद्धिजीवियों को इस संगठन शब्द से बहुत चिढ़ है, हालाँकि अपनी इस चिढ़ को वे बड़े संगठित रूप से व्यक्त करते हैं और अपनी छोटी-बड़ी जागतिक और सानुगतिक जरूरतों को पूरा करने के लिए किसी-न-किसी स्वरूप के संगठन का सहारा लेने से कभी नहीं चूकते ते हैं। ऐसे बुद्धिजीवी अपनी सुविधा में स्वतंत्र होते हैं, उनके सामने नागार्जुन की यह दुविधा बेचारी तो कभी सिर ही नहीं उठा पाती कि **'**सलिल को सुधा बनाएँ तटबंध /धरा को मुदित करें नदियाँ / तो फिर मैं ही रहूँ निर्बंध! मैं ही रहूँ अनियंत्रित! / यह कैसे होगा ?/ यह क्योंकर होगा? '[1]

2.2 संगठन की सचेत चेष्टा एक राजनीतिक प्रक्रिया है। बौद्धिक कार्य का एक अंतर्निहित राजनीतिक पक्ष होता है। समस्या तब उठ खड़ी होती है जब यह अंतर्निहित राजनीतिक पक्ष अंतर्निहित नहीं रहकर बाहर निकल आता है। बाहर निकलते ही बौद्धिक कार्य का यह अंतर्निहित राजनीतिक पक्ष सामाजिक प्रक्रिया से विच्छिन्न होकर राजसत्ता की राजनीतिक प्रक्रिया से नत्थी हो जाता है। यह नत्थीकरण कभी शुभ नहीं होता है। यह सवाल महत्त्वपूर्ण है कि राजनीतिकों का काम जिस स्तर पर सांगठनिक होता है क्या बुद्धिजीवियों का काम भी उसी स्तर पर सांगठनिक होता है? जो लोग चुटकियों में, आज की शब्दावली में कहें तो एक ही क्लिक में, सभी सवालों का तुरंता हल निकाल लेने का बल रखते हैं उनका पराक्रम मुझ जैसे लोगों के लिए प्रणम्य भले हो लेकिन इससे सवाल की पेचीदगी कम नहीं हो जाती है। राजनीतिक गुणवत्ता और बौद्धिक गुणवत्ता के अभाव में इसकी पेचीदगी और बढ़ जाती है। कहना अप्रासंगिक न होगा कि इतिहास का विहंगमावलोकन राजनीतिक गुणवत्ता और बौद्धिक गुणवत्ता की आंतरिक-सापेक्षिकता को प्रमाणित करता है। सभ्यता के विकास का इतिहास एक तरह से संगठनों के कार्यकलाप का इतिहास है। संगठित होकर और रहकर ही मनुष्य प्रत्येक चुनौती का सामना करता आया है। हैबरमास ने अपनी किताब 'द स्ट्रक्चरल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ पब्लिक स्फेयर' में 'जीवंत दुनिया और 'व्यवस्था' के संबंधों पर प्रकाश डाला है। किसी भी व्यवस्था की जीवंतता को बनाने और बचाने में जनभागीदारी से समर्थित संगठनों और संस्थाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। इस जनभागीदारी को प्रभावी बनाने के लिए आनिवार्य सूझ-बूझ और साहस का सामाजिक प्रसार एक बौद्धिक कार्य है। इसमें बुद्धिजीवियों की संगठित भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। संगठित प्रयास में अपनी शक्ति तो होती है लेकिन शक्ति में विवेकहीनता का खतरा भी होता है। हमारे समय का दुखद पहलू यह है कि विवेकहीनता संगठित है और विवेक अपने बिखराव के सबसे खतरनाक दौर में है। दूधनाथ सिंह ने अपने उपन्यास 'आखिरी कलाम' में चिंता व्यक्त की है कि 'हमें इस बात का डर नहीं है कि लोग कितने बिखर जाएँगे, डर यह है कि लोग नितांत गलत कामों के लिए कितने बर्बर ढंग से संगठित हो जाएँगे।[2]' हमारी अपनी संरचना में 'सर्वानुमति के अवसरवाद' का जो हाँका लगाया जा रहा है उसकी आवाज 'वाशिंगटन आमराय' (Washington Consensus) की मिथ्यावादिता की ही देसी प्रतिनिधि और प्रतिध्वनि है। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोश सहित सभी ब्रेटनवुड संस्थाओं (Bretton Woods institutions) की ढाँचागत समायोजननीति के दबाव में खाद्य, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा अन्य जरूरी मदों से सरकारों के हाथ खींच लेने के कारण बेगारी, बेरोजगारी और दुख में गुणात्मक वृद्धि हुई

---

[1] नागार्जुन रचनावली -1 **:** राजकमल प्रकाशन, प्रसं 2003 **:** यह कैसे होगा ? **:** सतरंगे पंखोंवाली - 1956

[2] दूधनाथ सिंह : आख़िरी कलाम : राजकमल प्रकाशन

है। भूमंडलीय अर्थनीति धन की रक्षा करती है, जन की नहीं — बौद्धिक संपदा के कॉपीराइट की चिंता करती है, कामगारों के जीवन-अधिकरों की चिंता नहीं। बाजार के मुक्त होने और आदमी को बंधन में डालनेवाली 'वाशिंगटन आमराय' की सामाजिक वैधता और स्वीकार्यता को रचने में बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, नौकरशाहों, वित्तीय संस्थानों और सैन्य संगठनों के बड़े समूहों का खतरनाक गठजोड़ काम कर रहा है। आर्थिक प्रणाली और प्रबंधन के ढाँचा का जनहितकारी स्वरूप बिगड़ रहा है। वैश्विक संपदा पर स्वामित्व की वैयक्तिक केंद्रिकता बढ़ रही है। सरकारी संस्थानों अर्थात जनशक्ति के केंद्रों पर धन संगठनों का वर्चस्व बढ़ रहा है। राष्ट्र में स्वनिहित जनकल्याणकारी राज्य के विकास की आकांक्षा को 'सुपर राष्ट्र' आच्छादित कर रहा है। निर्वाचित सरकारों के प्रावरण के अंदर यह सब मनोरम और चित्ताकर्षक प्रारूप में हो रहा है। सत्य से अधिक मूल्यवान आभास हो गया है।

2.3 वैश्विक समृद्धि के लिए 'मुक्त बाजार व्यवस्था' को एक मात्र उपाय बतानेवाले तथा विश्व व्यापार संगठन के समर्थन में फैलाये जा रहे 'मीडिया के झूठ' और 'वैश्विक विभ्रम' की वास्तविकता को सामने लाना, प्रेस की वास्तविक आजादी को बहाल करना, 'झूठी आमसहमति' का भेद खोलना, अपने राज्य और नागिरकों की वास्तविकता संप्रभुता की रक्षा के लिए तत्पर होना बौद्धिक काम है। यह कैसे होगा ? इसके लिए जनतांत्रिक मूल्यों के आधार पर कामगारों, किसानों, व्यापारियों, प्रोफेसनलों, कलाकारों, पत्रकारों, विचारकों, राजनीतिकों, ट्रेड युनियनों से जुड़े लोगों, नागरिक प्रशासकों, महिला संगठनों, दलित-पीड़ित सामाजिक समूहों के संगठनों, छात्र संगठनों, बेरोजगारों के समूहों, स्वयंसेवी एवं गैर-सरकारी संगठनों से जुड़े बुद्धिजीवियों का पुनर्संगठन और पारस्परिक समझ पर आधारित गतिशील नेटवर्किंग जरूरी है। इस पुनर्संगठन और नेटवर्किंग में संगठन की दृढ़ चेतना का होना जितना आवश्यक है, संगठनवाद से मुक्त रहने के साहस की जरूरत उससे कहीं ज्यादा है। इस काम में बुद्धिजीवियों की बड़ी भूमिका है। लेकिन, यहाँ इस सवाल से टकराना होगा कि बुद्धिजीवी कौन है ? बुद्धिजीवियों की पहचान को लेकर बुद्धजीवियों में भी काफी मतभेद रहे हैं। मुझे यह कहने की इजाजत दीजिए कि इन कार्य समूहों से या इन से बाहर के किसी भी कार्य समूह से जुड़े होने के आधार पर ही कोई स्वभावतः या अनिवार्यतः बुद्धिजीवी नहीं माना जा सकता है। अर्थात सभी वकील, सभी प्रोफेसर, सभी लेखक, सभी पत्रकार, इस तरह से किसी भी कार्य समूह के सभी व्यक्ति बुद्धिजीवी नहीं होते हैं और कोई भी ऐसा कार्य समूह नहीं हो सकता है जिससे जुड़ा एक भी व्यक्ति बुद्धिजीवी हो ही नहीं। पेशादारी बुद्धिजीवी होने का पट्टा नहीं देती है।

3 हिंदी पट्टी में वैचारिक संकट और उसके बुद्धिजीवी की भूमिका

3.1 यह हिंदी क्षेत्र, हिंदी प्रदेश या हिंदी पट्टी क्या है ? थोड़ा ठहर कर विचार कर लेना आवश्यक है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'अगर आप भारत वर्ष के मानचित्र में उस अंश को देखें जिसकी साहित्यिक भाषा हिंदी मानी जाती है तो आप देखेंगे कि यह विशाल क्षेत्र एक तरफ तो उत्तर में भारतीय सीमा को छुए हुए है, जहाँ से आगे बढ़ने पर एकदम भिन्न जाति की भाषा और संस्कृति से संबंध होता है और दूसरी तरफ पूर्व की ओर भी पूर्व सीमाओं को बनानेवाले प्रदेशों से सटा हुआ है। पश्चिम और दक्षिण में भी वह एक ही संस्कृति पर भिन्न प्रकृति के प्रदेशों से सटा हुआ है। भारतवर्ष का ऐसा कोई भी प्रांत नहीं है जो इस प्रकार की चौमुखी संस्कृति से घिरा हुआ हो। इस घिराव के कारण उसे निरंतर भिन्न-भिन्न संस्कृतियों और भिन्न-भिन्न विचारों के संघर्ष में आना पड़ा है। पर जो बात और भी ध्यानपूर्वक लक्ष्य करने की है वह यह कि यह 'मध्यदेश' वैदिक युग से लेकर आज तक अतिशय रक्षणशील और पावित्रियमानी रहा है। एक तरफ तो भिन्न विचारों और संस्कृतियों के निरंतर संघर्ष ने और दूसरी तरफ रक्षणशीलता और श्रेष्ठतत्त्वाभिमान ने इसकी प्रकृति में इन दो बातों को बद्धमूल कर दिया है — एक अपने प्राचीन आचारों से चिपटे रहना पर विचार में निरंतर परिवर्त्तित होते रहना,

और दूसरे धर्मों, मतों, संप्रदायों और संस्कृतियों के प्रति सहनशील होना।'[3] क्या सिर्फ साहित्यिक भाषा भाषा क्षेत्र का सीमांकन कर सकती है! फिर भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के निष्कर्षों में हिंदी प्रदेश या पट्टी की चौहद्दी एवं इसकी कुछ चारित्रिक विशिष्टताओं का उल्लेख है। लेकिन इन विशिष्टताओं के आधार पर हिंदी प्रदेश के बारे में कोई समझदारी प्रचलित नहीं हो पाई। जनसत्ता 10 सितंबर 2007 के अंक में प्रकाशित गीरिश मिश्र के लेख 'तर्क की कसौटी पर कुछ प्रचलित मान्यताएँ' के एक अंश का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक है, उन्हीं के शब्दों में, 'प्रचलित समझदारी' (अमेरिकी अर्थशास्त्री गालब्रेथ की पुस्तक 'द एफ्फलुएंट सोसायटी' 1958 में प्रकाशित कंवेंशनल विजडम या प्रचलित समझदारी की अवधारणा) 'बीमारू' रज्य को लेकर है। इस समझदारी को उपजाने और फैलानेवाले हैं प्रो. आशीष बोस। वे जानेमाने जनसंख्या विशेषज्ञ हैं। उनके अनुसार बिहार (झारखंड सहित), मध्यप्रदेश (छत्तीसगढ़ सहित), राजस्थान और उत्तर प्रदेश (उत्तराखंड सहित) के साथ पिछड़ापन अभिन्न रूप से जुड़ा है। इसमें हिकारत का भाव निहित है और एक तरह से उनकी नियति को जहालत और दरिद्रता से जोड़ने का प्रयास किया गया है। अगर आप इतिहास में जाएँ और इन राज्यों की सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियों को देखें तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि इन राज्यों के बीच हिंदी भाषा को छोड़कर कुछ भी समान नहीं है। कृषि भूमि संबंधों को लें। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के थोड़े-से इलाके में दमामी बंदोबस्त था, जबकि अन्यत्र रैयतवारी, महलवारी, भाईचारा आदि व्यवस्थाएं थी। पटवारी नामक प्राणी का बिहार में कोई अस्तित्व नहीं था जबकि अन्यत्र वह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण था। ---'बीमारू' राज्यों की अवधारणा दुर्भावनापूर्ण ही नहीं, बल्कि पूर्णतया अवैज्ञानिक है।'[4] यह ठीक है कि 'बीमारू' राज्यों की अवधारणा दुर्भावनापूर्ण ही नहीं, बल्कि पूर्णतया अवैज्ञानिक है लेकिन क्या हिंदी प्रदेश माने जानेवाले 'इन राज्यों के बीच हिंदी भाषा की समानता सचमुच है! 'पाटल' के जनवरी 1954 अंक में 'मैथिली और हिंदी' शीर्षक से डॉ. रामविलास शर्मा का एक लेख प्रकाशित हुआ था। इस लेख का मूल आशय यह था कि मैथिली कोई भाषा नहीं बल्कि एक बोली मात्र है। हिंदी में उसका समाहित हो जाना ही श्रेयस्कर है। इस पर नागार्जुन ने डॉ. रामविलास शर्मा का प्रत्याख्यान करते हुए 'मैथिली और हिंदी' शीर्षक से ही एक लेख लिखा। यह लेख दो किस्तों में 'आर्यावर्त्त' के 14 एवं 21 फरवरी 1954 अंक में छपा। बाबा नागार्जुन के शब्दों में ,'समूचे बिहार को हिंदी भाषा-भाषी घोषित करके और उसे विशाल हिंदी-प्रदेश का एक अंग मानकर आचार्य धीरेंद्र वर्मा की भाँति डाक्टर रामविलास शर्मा भी हिंदी साम्राज्य के वकीलों की कतार में आ गये हैं।'[5] इस प्रकार हिंदी पट्टी की आत्म-दृष्टि और विश्व-दृष्टि दोनों में बहुत उलझाव हैं। इन उलझावों को सुलझाना हिंदी पट्टी के बुद्धिजीवियों की एक बड़ी चुनौती है। कम-से-कम हिंदी क्षेत्र के बाहर हिंदी भाषियों की छवि बहुत अच्छी नहीं है। इस बिगड़ी हुई छवि का खामियाजा उन्हें भोगना पड़ता है जो इसके भूगोल से बाहर हैं। आत्म-केंद्रिकता कोई अच्छी बात नहीं है लेकिन समझना होगा कि आत्म-विमुखता भी कोई बहुत अच्छी बात नहीं है। अस्वीकार और स्वीकार एक ही प्रक्रिया के पहलू हैं — अस्वीकार के साहस का अपना महत्त्व है तो स्वीकार के साहस का भी अपना महत्त्व है। विवेकहीन और तर्कातीत साहस औद्धत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता है। कैसी विडंबना है कि जिन्हें बाहर में हिंदी भाषी होने के कारण अपमानित किया जाता है, जिनकी हत्या तक कर दी जाती है उनके सहोदर अपने हिंदी भाषी होने को स्वीकारने का साहस अपने घर में भी नहीं जुटा पाते हैं!

---

[3] हजारीप्रसाद द्विवेदी:हिंदी साहित्य की भूमिका-हिंदी साहित्य:भारतीय-चिंता का स्वाभाविक विकास:राजकमल प्रकाशन, संस्करण 1979

[4] गिरीश मिश्र :तर्क की कसौटी पर कुछ प्रचलित मान्यताएं :जनसत्ता 10 सितंबर 2007

[5] नागार्जुन रचनावली - 6 : मैथिली और हिंदी : आर्यावर्त्त, 14 एवं 21 फरवरी 1954

3.2 हिंदी पट्टी की एक बड़ी चुनौती यह भी है कि बौद्धिकता की सारी दायबद्धता इसके साहित्य और साहित्यिकों के जिम्मे है! और साहित्यिक अपनी महानता के डोमेन से बाहर निकलना ही नहीं चाहता है! मुक्तिबोध के शब्दों में याद कर लेना होगा कि 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में ही नहीं, वास्तविक दुनिया में रहते हैं। इस जगत में रहते हैं।साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।'[6] ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बड़े हिंदी भाषी और अ-हिंदी भाषी विद्वानों से हिंदी साहित्य के बड़े विद्वानों और बुद्धिजीवियों का संबंध कैसा है ? रामविलास शर्मा हिंदी के बड़े लेखक हैं। वे मुख्यतः साहित्य के आलोचक के रूप में जाने जाते हैं, लेकिन उनका लेखन उससे सीमित नहीं रहा है। भारत के प्राचीन इतिहास पर भी उन्होंने काम किया है। हिंदी भाषी प्रो .रामशरण शर्मा प्राचीन इतिहास के अधिकारी विद्वान हैं। रामविलास शर्मा की बरसी पर नामवर सिंह के प्रधान संपादकत्व और परमानंद श्रीवास्तव के संपादकत्व में निकलनेवाली 'आलोचना' जैसी महत्त्वपूर्ण पत्रिका का एक अंक (अप्रैल-जून 2001) रामविलास शर्मा पर निकालने की योजना थी। इसी योजना के निमित्त मदन कश्यप ने प्रो. रामशरण शर्मा से रामविलास शर्मा के प्राचीन भारत के इतिहास संबंधी कुछ निष्कर्षों पर बात-चीत करनी चाही। बात-चीत तो क्या हो पाई, लेकिन इस बात-चीत के प्रस्ताव पर प्रो .रामशरण शर्मा ने जो कहा उसका उल्लेख प्रासंगिक है। प्रो. रामशरण शर्मा के शब्दों में ' —देखिए, रामविलासजी बहुत विद्वान आदमी थे। वे बहुत बड़े 'लिटरेरी क्रिटिक' थे। मैंने सुना है कि आखिरी दिनों तक वे लगातार लिखने-पढ़ने का काम करते रहे। गोष्ठियों-सेमिनारों आदि में जाने से परहेज करते थे और अपना समय लेखन-कार्य में लगाते थे। सुना है। मेरे मन में उनके लिए सम्मान है। परंतु, मैं उन पर कुछ बात नहीं करना चाहता। क्योंकि, एक तो मैंने उनका कुछ खास पढ़ा नहीं है। शुरू के दिनों में साहित्यालोचना की एक दो किताबें उनकी पढ़ी होंगी। फिर उनका निधन हो गया है। निधन के बाद ऐसे महान आदमी पर टिप्पणी नहीं करनी चाहिए ...अभी मेरे पास समय भी नहीं है। एक जरूरी पेपर तैयार कर रहा हूँ। बाहर (विदेश) भेजना है। यह तो बिजली चली गई। इसीलिए, यहाँ आ बैठा था ...फिर भी, आप चाहते हैं तो कभी प्रश्नावली दे जाइएगा ...।'[7] एक और घटना का उल्लेख करने से इस प्रसंग का चक्र पूरा होगा। अभी 28, 29 एवं 30 सितंबर 2007 को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जन्मशतवार्षिकी पर भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता ने 'इतिहास, स्मृति और स्वप्न' शीर्षक एक त्रिदिवसीय सेमिनार का आयोजन किया था। इतिहास के प्रो. और विश्वभारती के उप कुलपति रजतकांत राय उद्घाटन सत्र के अध्यक्ष थे। महाश्वेता देवी को उद्घाटन करना था और डॉ. नामवर सिंह को बीज भाषण देना था। अपने अध्यक्षीय भाषण में प्रो. राय ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस निष्कर्ष का कि 'भारतीय इतिहास की अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना अर्थात इस्लाम का प्रमुख विस्तार न भी घटी होती तो भी वह (हिंदी साहित्य और शायद समाज भी) इसी रास्ते जाता'[8] का उल्लेख करते हुए इससे अपनी असहमति का तर्क दिया। उस दिन तो नामवरजी ने कुछ नहीं कहा लेकिन दूसरे दिन उन्होंने जो कहा उसका आशय, कालिदास के हवाले से यह था कि सीता की मुक्ति के लिए समुद्र पार कर लंका पहुँचनेवाले बंदरों को समुद्र की गहराई का क्या पता! रामविलास शर्मा ने जीवन भर हिंदी में काम किया। किसी अन्य भाषा को बोलनेवाले या अपने बौद्धिक वरताव में हिंदी का व्यवहार न करनेवाले विद्वानों ने उनके काम को नहीं देखा तो क्या शिकायत जब प्रो. रामशरण शर्मा जैसे ज्ञान की अन्य शाखा के हिंदी भाषी विद्वान के ही मन में उनके काम के प्रति कभी सामान्य दिलचस्पी भी नहीं

---

[6] **गजानन माधव मुक्तिबोध : एक मित्र की पत्नी का प्रश्न चिहन : मुक्तिबोध रचनावली 4 : सं. नेमिचंद जैन : राजकमल प्रकाशन**

[7] रामशरण शर्मा : आलोचना - सहस्राब्दी अंक 5 अप्रैल-जून 2001 : राजकमल प्रकाशन

[8] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी :हिंदी साहित्य की भूमिका - हिंदी साहित्य :भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास : राजकमल प्रकाशन, सं : 1979

रही ! जब हिंदी का विद्वान ज्ञान की अन्य शाखाओं में काम करते हुए प्रतिष्ठा अर्जित करनेवाले आमंत्रित असहमत विद्वानों के प्रति सामान्य शिष्टाचार और सम्मान को ताक पर रख, रूपकों का इस्तेमाल कर अपनी सभा में बंदर घोषित करने से अपने को रोक नहीं पायेगा तो फिर बौद्धिक चुनौतियों को पूरा करने के लिए ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के बीच सहमति का सेतु कैसे बनेगा? श्रीकांत वर्मा के शब्दों में पहले दुहरा लें कि ‘न मगध है, न मगध / तुम भी तो मगध को ढूँढ़ रहे हो / बन्धुओ, / यह वह मगध नहीं / तुमने जिसे पढ़ा है / किताबों में, / यह वह मगध है जिसे तुम / मेरी तरह गँवा / चुके हो।’[9] और फिर जहाँ-जहाँ लिखा है मगध थोड़ा झिझकते हुए ही सही वहाँ-वहाँ लिख दें — हिंदी पट्टी। एक अंतर दिखेगा, वह यह कि मगध खो गया, हिंदी पट्टी तो मिल ही नहीं पाई... !

3.3 दूसरे कार्य समूह के हिंदी बुद्धिजीवी चाहे जिस तरह से सोचते हों हिंदी साहित्य से जुड़े बुद्धिजीवियों के लिए अपने पाठकों के बारे में गंभीरता से सोचने का वक्त है। ध्यान रहे हिंदी पट्टी की राजनीति से जनता का गायब होना और हिंदी साहित्य से पाठक का अनुपस्थित हो जाना एक ही समाजिक प्रक्रिया का परिणामहै। कभी सार्त्र ने दुख के साथ कहा था कि हमारा पाठक तो है, लेकिन पब्लिक नहीं है। जैसे राष्ट्र की वास्तविक संप्रभुता उसके नागरिकों में निहित रहती है वैसे ही साहित्य की संप्रभुता पाठकों में निहित रहती है। पब्लिक तो बड़ी बात है, हमारे तो पाठक ही रूठ गये हैं! अहंवाद के पहाड़ को लाँघे बिना फाठक के दर्शन नहीं होंगे। इस परीक्षा को उत्तीर्ण किये बिना गति नहीं है, प्रगति की कौन कहे! दुर्गति हो तो, हो ! रघुवीर सहाय की बात काम की हो सकती है — 'आज के समय में कवि का अपनी परीक्षा के लिए समाज के सामने आना, विशेष रूप से तब जबकि समाज में उसके अपने अस्तित्व को अर्थात समाज से अपने रिश्ते को समझने में संशय हो रहा हो, उसे अहं के रचना विरोधी खतरे से बचायेगा। क्या उसकी रचना सचमुच कहीं झूठे विश्वासों को झूठा बताती है ? और जो नया विश्वास देती है वह लोगों के मन में क्या स्वयं उनकी एक नई पहचान पैदा करता है ? लोग कवि की रचना में क्या उस नये विश्वास को पहाचानकर देख पाते हैं कि अवश्य ही कविता उन्हें बता रही है कि खुद उनमें नया क्या है ? पाठक का पुनरुज्जीवन कर सकना आदेश या उपदेश देनेवाले अहं का विसर्जन करके ही संभव है।’[10] झूठे विश्वास को झूठा साबित कर नई पहचान कायम करना आज हिंदी पट्टी के बुद्धिजीवियों की सबसे बड़ी चुनौती है — और ऐसा नहीं कर पाना सबसे बड़ा वैचारिक संकट है।

---

[9] **श्रीकांत वर्मा : मगध : ‘मगध’ 1984 : श्रीकांत वर्मा - प्रतिनिधि कविताएँ : राजकमल पेपर बैक्स, तीसरी आवृत्ति 2005**

[10] रघुवीर सहाय : लोग भूल गये हैं : पहला संस्करण 1982